

# ॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

## अजस्र अनुदान उपलब्धि प्रकरण

आरण्यकस्य सत्रस्य द्वितीयेऽह्नि मनीषिणः ।  
ऋषयः कृतनित्यास्ते प्रभातसमये शुभे ॥ १ ॥  
देवदारुतरूणां ते संगताः सघने शुभे ।  
उपवने तं महाप्राज्ञं व्यासपीठसुशोभितम् ॥ २ ॥  
नत्वा पिप्पलादं ते, क्रमशः स्वं स्वमासनम् ।  
यथाक्रमं व्यराजंत तत्त्वजिज्ञासवः समे ॥ ३ ॥  
स्मारयन् प्रथमं तत्त्वचिन्तनं निर्गताह्निकम् ।  
श्वेतकेतुः समाधातारं पप्रच्छ तु वाग्मिनम् ॥ ४ ॥

टीका—आरण्यक सत्र के दूसरे दिन प्रातःकाल की वेला में नित्य नैमित्तिक कर्मों से निवृत्त होकर सभी ऋषि-मनीषी पुनीत देवदारु वृक्षों के सघन सुंदर उद्यान में एकत्रित हुए । व्यासपीठ पर विराजमान महाप्राज्ञ पिप्पलाद को नमन-वंदन करने के उपरांत वे सभी तत्त्वजिज्ञासु अपने-अपने नियत स्थान पर यथाक्रम विराजमान हो गए । पिछले दिन के तत्त्व-चिंतन का स्मरण दिलाते हुए विचारवान श्वेतकेतु ने समाधानी प्रवक्ता से पूछा ॥ १-४ ॥

श्वेतकेतु उवाच—

## १.२० प्रज्ञोपनिषद्

देव! किं सर्वथा मर्त्यः स्वतंत्रोऽथ च सर्वथा ।  
परिपूर्णोऽनपेक्ष्योऽयैः प्रगतेः पथि संचरन् ॥ ५ ॥  
स्वतंत्रतायां तस्यास्ति बाधको नहि कोऽपि किम् ।  
यद् यद् वांछति तत्तत् सक्षमः कर्तुमृषीश्वरः ॥ ६ ॥  
सर्वस्वं किं तदिच्छास्ति सामर्थ्यं च तदीयकम् ।  
भवता मानवस्यालं गरिम्णो यद्विनिर्मितौ ॥ ७ ॥  
ईश्वरानुग्रहः प्रोक्तो व्यक्तिः सौभाग्यमेव च ।  
यथार्थमपि तत्रालं, काठिन्यं व्यावहारिकम् ॥ ८ ॥  
क्षममाणो बालबुद्धिं कृपया वद मानवः ।  
सन्मार्गप्रस्थितोऽन्यस्यापेक्षां कुरुते न वा ॥ ९ ॥

टीका—देव क्या मनुष्य सर्वथा स्वतंत्र और सर्वथा परिपूर्ण है? क्या उसे प्रगति क्रम पर अग्रसर होते हुए किसी की सहायता अपेक्षित नहीं होती। हे ऋषि श्रेष्ठ क्या उसकी स्वतंत्रता में कोई बाधक नहीं है? क्या वह जो चाहे सो कर सकता है? क्या उसकी इच्छा एवं सामर्थ्य ही सब कुछ है? आपने मनुष्य की गरिमा बताते हुए ईश्वर के अनुग्रह और व्यक्ति के सौभाग्य की चर्चा की थी वह यथार्थ होते हुए भी उसमें कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ जान पड़ती हैं। हमारी बाल-बुद्धि को क्षमा करते हुए कृपया यह कहें कि मनुष्य को सन्मार्ग पर अग्रसर होने के लिए अन्य किसी की सहायता अपेक्षित है या नहीं ॥ ५-९ ॥

व्याख्या—जिज्ञासु श्रोता श्वेतकेतु अध्यात्म दर्शन प्रकरण की चर्चा को आगे बढ़ाते हुए मनुष्य की स्वतंत्रचयन क्षमता पर अपना असमंजस व्यक्त करते हैं। प्रजासत्र के प्रथम दिन के स्पष्टीकरण में महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने यह कहा था कि मनुष्य सृष्टि का सिरमौर है, विशिष्ट विभूतियों से संपन्न है व उसे विधाता की ओर से अपनी दिशाधारा तथा जीवन की गतिविधियाँ अपनाने की पूरी छूट है। अपनी शंका व्यक्त करते हुए वे कहते हैं क्या इसका यह अर्थ है कि मनुष्य को बाह्य क्षेत्र से किसी प्रकार की कोई सहायता अभीष्ट नहीं है? अंतर्मुखी बन अपने ही अंदर से प्रगति की दिशाधारा चुनकर मनुष्य महान बनता है, यह तथ्य सही है, अनुभूत तथ्य है। फिर भी यह जिज्ञासा उनके मन में अभी भी शेष है कि मनुष्य को आत्मावलंबन व स्वतंत्र निर्णय बुद्धि के अतिरिक्त भी परम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कौन-सा ऐसा पक्ष शेष रह जाता है जिसकी व्याख्या मुनिवर ने नहीं की है।

श्वेतकेतु ने बड़ी बुद्धिमत्ता पूर्वक इस तथ्य को व्यक्त किया है कि ज्ञान मात्र सौभाग्य व ईश्वरीय कृपा की व्याख्या तक सीमित न रहे वरन् उसके व्यावहारिक पक्ष को भी खोला जाए ताकि सामान्य जन उससे लाभ उठा सकें।

यदि थोड़ा गहराई में प्रवेश करें तो हम अपने चारों ओर देखते हैं कि सिद्धांत तो कईयों को ज्ञात हैं। तत्त्वज्ञान, ब्रह्मविद्या

की दृष्टि से वे विद्वान भी माने जाते हैं पर जब व्यावहारिकता की बात आती है तो वहाँ वे शून्य पाए जाते हैं। ज्ञान का श्रवण तो अच्छा है पर यदि उसे व्यवहार में उतारना आया नहीं तो ऐसा अधूरा ज्ञान किस काम का? लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अध्यात्म विज्ञान के क्षेत्र में भी यही सिद्धांत लागू होता है। एक चरण सिद्धांत का, एक व्यवहार का। सिद्धांत अपनी जगह अटल व यथार्थ होते हुए भी व्यावहारिक न हो तो प्रगति रुकी ही रहेगी।

प्रश्नं श्रुत्वा महाप्राज्ञः प्रसन्नः प्रशंससः ।

जिज्ञासूनां मतिं सूक्ष्मां कथयामास तात हे ॥ १० ॥

सारयुक्ता व आशंका समाधानं च श्रूयताम् ।

तस्याः सर्वैः बुधैः सार्धं सावधानेन चेतसा ॥ ११ ॥

टीका—प्रश्न को सुनकर महाप्राज्ञ बहुत प्रसन्न हुए, जिज्ञासुओं की सूक्ष्म बुद्धि को सराहा और कहा तात तुम्हारी आशंका सारगर्भित है। उसका समाधान ध्यानपूर्वक अन्य विद्वानों के साथ श्रवण करें ॥ १०-११ ॥

व्याख्या—प्रज्ञा संपन्न समर्थ तत्त्वदर्शी के पूछे गए उन प्रश्नों की सराहना करते हैं जिनसे संशय का निवारण होता हो तथा आत्म कल्याण और लोक कल्याण के सदुद्देश्य को लेकर पूछे गए होते हैं। जिज्ञासा से युक्त उचित प्रश्नों का समर्थों द्वारा समय-समय पर समाधान किया जाता रहा है। अर्जुन को उठाए गए प्रश्नों को सुनकर श्रीकृष्ण ने उनकी सूक्ष्म बुद्धि की प्रशंसा की। महाभारत में गीता का उपदेश ऐसे ही जिज्ञासा से युक्त प्रश्नों तथा उत्तरों से भरा पड़ा है। भारत की यह आर्षकालीन परंपरा रही है। आरण्यकों का संचालन ऐसे ब्राह्मण करते थे जो अध्यात्म विद्या के मर्मज्ञ होते थे। विविध प्रसंगों पर उठाए गए अध्यात्म प्रश्नों का वे युगानुरूप उत्तर देते थे। जिज्ञासु उनका श्रवण करते तथा भावी रीति-नीति निर्धारित करते थे। इसी कारण यहाँ का जीवन सदैव प्रसन्न, संतुष्ट, सद्गति शील और स्वर्गीय रहा है।

जीवोऽंश ईश्वरस्याति तेनैवास्ति च संयुतः ।

श्रेष्ठमार्गे प्रयातुं चेद् याचते शक्तिमेष तु ॥ १२ ॥

उदारः सददात्येनां प्राप्य चैवं सहायताम् ।

कृतकृत्या भवंत्येते भक्तास्तेजस्विनोऽपि च ॥ १३ ॥

सिद्धींस्ता अद्भुतास्ते तु वृत्तं शक्ता भवंति च ।

अग्रगानां सुरूपाश्च प्राप्यभूतीः गताः श्रमम् ॥ १४ ॥

टीका—जीव ईश्वर का अंश है, उसके साथ जुड़ा हुआ भी है। श्रेष्ठता के मार्ग पर चलने के लिए जब शक्ति माँगी जाती है, तो वह उसे उदारतापूर्वक देता भी है। इस प्रकार की सहायता पाकर अनेकों भक्त जन कृतकृत्य हुए हैं, तेजस्वी बने हैं, अद्भुत सफलताएँ वरण करने में समर्थ हुए हैं तथा अग्रगामियों के अनुरूप विभूतियाँ प्राप्त करते हुए परम लक्ष्य

तक पहुँचे हैं ॥ १२-१४ ॥

व्याख्या—जिज्ञासा का समाधान विषयानुरूप करते हुए महाप्राज्ञ कहते हैं कि मनुष्य उस परमसत्ता का एक अंश होने के नाते उससे अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। मनुष्य अपने निर्णय के लिए पूर्ण रूपेण स्वतंत्र है। इसमें कहीं वह कोई हस्तक्षेप नहीं करता। विवेक का अवलंबन लेकर मनुष्य जब भी उत्कृष्टता की ओर बढ़ता है तो फिर उसकी मदद के लिए अनुदान लुटाने के लिए भी वह सहर्ष तैयार हो जाता है। यही परब्रह्म की विशेषता है। चयन की स्वतंत्रता, औचित्य-अनौचित्य का वरण, यह काम उसने जीव के जिम्मे छोड़ा है तथा भटकने पर सीख, दंड आदि के रूप में वापस नहीं मार्ग पर लाना एवं सन्मार्ग पर चलने पर मुक्त हस्त से अनुदान लुटाना यह अपने जिम्मे रखा है। जीव ब्रह्म की एकता व परस्पर संबंधों की यह विशेषता ही मनुष्य रूपी जीवधारी को अन्यो की तुलना में वरिष्ठ ठहराती है।

जिस प्रकार किसी वनस्पति की विशेषताएँ उसका गुण-दोष, जड़-तनेत्वक् यहाँ तक कि फूल पत्ती आदि के अंश-अंश में ओत-प्रोत हैं, उसी प्रकार निश्चय ही ईश्वर के सारे गुण विशेषताएँ जीव में हैं, उसका अंश, उसका पुत्र प्रतिनिधि होने के नाते ओत-प्रोत हैं।

अनन्तं तत्परं ब्रह्मतदचिन्त्यमगोचरम्।

समग्रं तत्तु जिज्ञातुं न हि शक्यं कथञ्चन ॥ १५ ॥

मनुष्येण सहैवास्ति सत्ता तु परमात्मनः।

संयुक्तोत्कृष्टतादर्शवादिता परमात्मना ॥ १६ ॥

सघनता तस्य जीवेन सह संयुज्यतेऽतः।

अनुग्रहेण तस्यापुर्भक्ता भूतीर्वरानलम् ॥ १७ ॥

टीका—परब्रह्म अनन्त, अचिन्त्य, अगोचर एवं अद्भुत है, उसे समग्ररूप में जान सकना किसी के लिए भी शक्य नहीं। मनुष्य के साथ उसकी परमात्म सत्ता ही जुड़ती है। उत्कृष्ट आदर्शवादिता का समुच्चय ही परमात्मा है जीव के साथ उसी की सघनता जुड़ती है, उसी के अनुग्रह से वैभव वरदान का भंडार भक्तजनों को हस्तगत होता है ॥ १५-१७ ॥

व्याख्या—परमात्मसत्ता का एक विराट् असीम स्वरूप वह है जो हमारे चारों ओर दिग-दिगंत में व्याप्त है। सामान्य बुद्धि इसे समझ नहीं पाती, न इसे परिपूर्ण रूप में जाना जा सकता है। दूसरा स्वरूप यह है जिससे जीव जुड़ा हुआ है। एक को परब्रह्म एवं दूसरे को परमात्मा कहते हैं। पहला सृष्टि की नियम व्यवस्था, गतिचक्र इत्यादि का नियंत्रणकर्ता है, स्फुल्लिंगों के रूप में इसी दिव्य ज्योति का प्रकाश भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई पड़ता है।

आदर्शभूतसत्ता तु परमात्मन एव सा।

युज्यते मानवैर्योग्यैरनुकूलैरलं मुदा ॥ १८ ॥

अनुरूपत्वमेवैतदनुकूलत्वमेव च।

उच्यते पात्रता तां च प्राप्तुमेवाप्त पूरुषाः ॥ १९ ॥

उपासनासाधनानां विधानानि व्यधुर्न तु।

स्तवनोपक्रमस्यास्ति प्रभोर्वोपहृते रतिः ॥ २० ॥

पात्रतां विकसितां कृत्वा मनुष्यः परमात्मनः।

अनेकानेकदिव्यानुदानान्यासादयत्ययम् ॥ २१ ॥

टीका—आदर्शों की प्रतीक परमात्म सत्ता उन्हीं मनुष्यों के साथ जुड़ती प्रसन्न होती है, जो उसके अनुरूप हैं। इस अनुरूपता, अनुकूलता को ही पात्रता कहते हैं। पात्रता विकसित करने के लिए ही आप्तजनों ने उपासना और साधना का विधान बनाया है। ईश्वर को किसी स्तवन उपक्रम या उपहार की आवश्यकता नहीं है। पात्रता विकसित करके ही मनुष्य परमात्मा से अनेकानेक दिव्य अनुदान प्राप्त करता है ॥ १८-२१ ॥

व्याख्या—परमात्मा उपयुक्त पात्र के साथ ही जुड़ता, सघनता स्थापित करता है और अनुदान वर्षा के माध्यम से अपनी प्रसन्नता उल्लास व्यक्त करता है। इसके लिए उन्हीं गुणों को अपने जीवन में उतारना होता है जिनका समुच्चय परमात्मसत्ता में है। इतना करने भर से वह पात्रता पा लेता है जो उसे ईश्वर के साथ बैठने योग्य अधिकार दे देती है। पात्रता अर्थात् वह गठबंधन जो आत्मसत्ता को परमात्मसत्ता से जोड़कर आदान-प्रदान का क्रम आरंभ कर देता है। भक्त की गुण कर्मों की उत्कृष्टता व आदर्शों के प्रति समर्पण तथा भगवान की अनुकंपा यह प्रवाह फिर सतत चलने लगता है।

गुणकर्मस्वभावेषूत्कृष्टत्वस्याभिवृद्धिका ।

परमेशस्य मुख्या साऽनुकंपा विद्यते ध्रुवम् ॥ २२ ॥

एतदाश्रित्य व्यक्तित्वं परिष्कृतमथो भवेत्।

फलतोऽन्तः प्रखरतां बाह्ये स साधु भावनाम् ॥ २३ ॥

वर्धमानां सदा पश्यत्यलं द्वे यस्य चागते।

विभूती वस्तुनस्तस्य नास्ति कस्यापि न्यूनता ॥ २४ ॥

टीका—गुण, कर्म, स्वभाव में उत्कृष्टता की अभिवृद्धि निश्चित ही परमेश्वर की प्रमुख अनुकंपा है। इसी के सहारे व्यक्तित्व परिष्कृत होता है। फलतः उपलब्धकर्ता अंतःक्षेत्र में प्रखरता और बाह्यक्षेत्र में सद्भावना बढ़ती देखता है। जिन्हें ये दो विभूतियाँ मिलीं, उन्हें किसी भी वस्तु की कमी नहीं रहती ॥ २२-२४ ॥

व्याख्या—जब भी प्रभु की कृपा बरसती है तो ये साधक के अंतरंग में सद्गुणवृद्धि के रूप में तथा बहिरंग में स्वभाव में सुसंस्कारिता के समावेश के रूप में। यदि इतना परिवर्तन न दिखाई पड़े तो समझना चाहिए कि साधक ने साधना नहीं मात्र समयक्षेप किया, उसकी आवाज ईश्वर तक नहीं पहुँची। साधना की सच्ची फलश्रुति है मनुष्य की अपने आंतरिक

## १.२२ प्रज्ञोपनिषद्

दुर्गुणों से संघर्ष लेने योग्य प्रचंडता और अपने व्यवहार क्षेत्र में सद्भाव का विस्तार। हम पाते यह हैं कि मनुष्य अंतः के प्रति अपने दुर्गुणों स्वभाव में बैठी दुष्प्रवृत्तियों कुसंस्कारों के प्रति तो दयालु होता है परंतु बाह्यक्षेत्र में कड़ा एवं कटु। जब यह स्थिति उलटने लगे तो मानना चाहिए कि साधक की साधना सफल रही व्यक्तित्व का परिष्कार हुआ और यही प्रभु की अनुकंपा विभूति वर्षा है।

ईश्वरस्य तु सद्भक्तिः साधकं मान्य सद्गुणैः।

परिपूर्ण विनिर्माति सहैवोदारतां तथा ॥ २५ ॥

ददाति येन कार्यं स्वं पूरयन्त्यूनतस्तथा।

उपलब्धेर्लाभयुतं कर्तुं शक्येत भूतलम् ॥ २६ ॥

एतादृशास्तु भक्ता ये भूसुरास्ते तु निश्चितम्।

अयाचितमजस्रं ते लभन्ते योगमैश्वरम् ॥ २७ ॥

टीका—सच्ची ईश्वर भक्ति साधक को मानवी सद्गुणों से परिपूर्ण बनाती है। साथ ही ऐसी उदारता प्रदान करती है कि अपना काम न्यूनतम में चलाकर उपलब्धि से विश्व-वसुधा को लाभांविता किया जा सके। ऐसे भक्तजन इस धरती के देवता होते हैं। उन्हें बिना माँगे ही ईश्वर का अजस्र सहयोग मिलता है ॥ २५-२७ ॥

व्याख्या—भक्ति का प्रमाण यह नहीं कि कौन क्या-क्या सिद्धि पा सका। अपितु ईश्वर भक्ति मनुष्य में ऐसी उदारमना वृत्ति का समावेश करती है कि व्यक्ति अपनी नहीं सारी मानवता की पीड़ा को अपनी पीड़ा समझता है। इसके लिए अपने अंतः में सद्गुणों की वृद्धि कर वह स्वयं औसत नागरिक का जीवन जीता है ताकि सृष्टि के सभी प्राणी उपलब्ध साधनों का आवश्यकतानुसार उपभोग कर सकें।

ईश्वरानुग्रहमात्मविश्वासं योऽधिगच्छति।

समर्थः स तथा मन्ये कुबेरेंद्रानुकंपितः ॥ २८ ॥

इमान्याप्तमेकमात्रमुपायो योग्यतोदयः।

सधनात्मीयता चास्य हेतोर्योज्येश्वरेण तु ॥ २९ ॥

अनुशासनं प्रभोस्तस्य स्वीकर्तव्यं भवत्यपि।

महते समर्पितात्मानस्तद्रूपसमतां गताः ॥ ३० ॥

टीका—आत्मा विश्वास और ईश्वर अनुग्रह उपलब्ध कर लेने वाला व्यक्ति इतना समर्थ संपन्न होता है, मानो उसे इंद्र कुबेर का सहयोग मिल गया। इन्हें प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है अपनी प्रामाणिकता विकसित करना। इसके लिए ईश्वर के साथ सधन आत्मीयता जोड़नी होती है, उसका अनुशासन अपनाना होता है। महान के साथ समर्पण विसर्जन करने वाले तद्रूप होते देखे गए हैं ॥ २८-३० ॥

व्याख्या—सद्गुणों की अभिवृद्धि व्यक्ति में आत्म विश्वास बढ़ाती है। अपने पर विश्वास ही ईश्वरीय सत्ता में विश्वास है इसे ही सच्ची आस्तिकता कह सकते हैं। ऐसे व्यक्ति प्रभु की

कृपा सामर्थ्य के रूप में इंद्र का सहयोग तथा संपन्नता के रूप में कुबेर का सहयोग पाते हैं, अपनी विभूतियों का सदुपयोग कर स्वयं धन्य बनते हैं, अनेकों को कृतार्थ कर जाते हैं।

साधनाऽऽराधनोपासनानां तु त्रिभिरीश्वरः।

उपायैर्जीवसत्तायां प्रवेशं लभते ध्रुवम् ॥ ३१ ॥

देवोपमचरित्रं च निर्मातुं प्रेरयत्यसौ।

मनुष्यमेतदालोकानुरूपं ये चलन्ति ते ॥ ३२ ॥

भक्ता असीम सामर्थ्यं प्राप्नुवन्ति यथा च ते।

आश्रयं कंचनान्यं तु न भजन्ति मुनीश्वराः ॥ ३३ ॥

सर्वाभ्यश्च दिशाभ्यस्तु वर्षतीव तथांजसा।

सहयोगोऽनुकूलायां स्थितौ सौभाग्यसंपदा ॥ ३४ ॥

टीका—उपासना, साधना, आराधना के तीन उपायों से ईश्वर, जीवसत्ता में प्रवेश करता है तथा मनुष्य को देवोपमचिंतन चरित्र विनिर्मित करने की प्रेरणा देता है। इस आलोक के अनुरूप साहसपूर्वक चलने वाले, भक्त जन इतनी असीम सामर्थ्य प्राप्त करते हैं कि हे मुनीश्वरो फिर उन्हें अन्य किसी का सहारा लेना नहीं पड़ता। उन पर हर दिशा से सहयोग अनायास ही बरसता है, जैसे अनुकूल परिस्थितियों में सौभाग्य संपत्ति आदि ॥ ३१-३४ ॥

व्याख्या—अपने गुण, कर्म स्वभाव का परिष्कार, अंदर विद्यमान दिव्य सत्ता पर विश्वास तथा प्रामाणिकता का परिचय देकर मनुष्य इस योग्य बन जाता है कि ईश्वरीय आलोक उसके अंदर प्रवेश कर सकें। इसके लिए जो उपाय अपनाने होते हैं वे भी अपने स्थान पर अनिवार्य हैं, उपासना-साधना-आराधना के रूप में जो विविध उपक्रम अपनाने होते हैं वे इसी निमित्त होते हैं।

(१) उपासना—उपासना अर्थात् आदर्शों के समुच्चय परब्रह्म के साथ अधिकाधिक समीपता स्थापित करना। उसकी प्रेरणाएँ अधिकाधिक मात्रा में आत्मसात करना। सान्निध्य की भक्ति भावना उभारना और चंदन वृक्ष के समीप उगने वाले वृक्षों की तरह अधिकाधिक सुरभित बनते जाना। क्रमशः अग्नि और ईंधन जैसी एकात्मता स्थापित करना।

उपासना का अर्थ है समीपता। यों तो भगवान कण-कण में संव्याप्त हैं, ओत-प्रोत हैं पर यह समीपता उथली है, गहरी नहीं। अपने को ईश्वर के समकक्ष तद्रूप बनाने के लिए उसकी समीपता का उपक्रम बनाना पड़ता है। सामीप्य संगति का माहात्म्य सर्वविदित है। यदि ईश्वर के पास बैठकर भी मानव जीवन धिनौना रहा तो यह उपासना नहीं बाह्योपचार भर है। ईश्वर उत्कृष्टताओं का भंडार है। उसकी समीपता से भी वैसी ही विशेषताएँ अंदर बढ़नी चाहिए। चंदन के समीप उगे झाड़-झंखाड़ तक सुगंधित हो जाते हैं। कीट-भृंग का, टिड्डे का हरी घास में रहने से हरे होने का उदाहरण सर्वप्रसिद्ध

है। उपासना सच्ची तभी है जब जीवन में ईश्वर घुल जाए।

(२) साधना-साधना का अर्थ है जीवन-साधना। आत्मनिरीक्षण, आत्मशोधन, आत्मनिर्माण एवं आत्मविकास की अंतःचेतना उत्पन्न करने के लिए स्वाध्याय, सत्संग, चिंतन, मनन का नियमित प्रबंध करना। इस माध्यम से अंतःजगत का पर्यवेक्षण कर अभ्युदय का पथ-प्रशस्त करना। अन्तरंग में सुसंस्कारिता का अभिवर्द्धन और व्यवहार में सज्जनोचित सभ्यता का अभ्यास करना। इन निर्धारणों का संकल्पपूर्वक स्वभाव अभ्यास का अविच्छिन्न अंग बनाने हेतु प्रयत्नरत रहना। संक्षेप में यही है जीवन साधना जिसमें अनगढ़ को सुदृढ़ बनाया जाता है इसी प्रयास से नर को नारायण बनने का सौभाग्य मिलता है।

वन्य पशुओं के सधने से पालतू हो जाने, किसान की साधना द्वारा ऊबड़-खाबड़ ऊसर जमीन के उर्वर हरीतिमा युक्त हो जाने के उदाहरण ऐसे हैं जो बताते हैं कि साधना के माध्यम से मानव जीवन को एक उद्यान की तरह पुष्पित-पल्लवित किया जा सकता है। साधना में अपने चिंतन को उत्कृष्ट और कर्तृत्व को आदर्श बनाने के लिए हर पल प्रयत्नशील रहने की सुनिश्चित योजना बनाकर चला जाता है। उपासना कुछ क्षणों की हो सकती है पर साधना अनवरत चलनी चाहिए।

(३) आराधना-लोकमंगल के लिए समाज को अपने उपार्जन श्रम समय संपदा का अंश अर्पित करना। सेवा धर्म द्वारा समाज ऋण से मुक्ति, ईश्वरीय अपेक्षा की पूर्ति एवं सर्वतोमुखी प्रगति के तीनों ही उद्देश्य इस उदार परमार्थ परायणता के बदले ही खरीदे जाते हैं।

तमुवाच महाप्राज्ञः श्वेतकेतो समर्चना।

प्रभुसंपर्किणी वाग्भिरुपचारोपहारकैः ॥ ३५ ॥

सदृशैः साधनैर्हीनैः संभवेत्किंतु तस्य ताम्।

लब्धुं दयामपेक्ष्योऽयमात्मोत्साही च पावनः ॥ ३६ ॥

टीका—महाप्राज्ञ ने कहा है श्वेतकेतु ईश्वर से संपर्क जोड़ने वाला, भजन पूजा तो वचन, उपचार, उपहार जैसे नगण्य साधनों से भी हो सकता है, पर उसकी अनुकंपा प्राप्त करने के लिए अपने को पवित्र-प्रखर बनाना होता है ॥ ३५-३६ ॥

व्याख्या—महाप्राज्ञ ईश्वर जीव के परस्पर सम्मिलन संयोग के दर्शन व प्रक्रिया को समझाते हुए श्वेतकेतु से कहते हैं कि जान-पहचान वाला संबंध तो स्थापित कर लेना आसान है, पर ऐसा संपर्क जिसके बदले में दैवी अनुदान बरसने लगे, ईश्वरीय कृपा अपने अंदर प्रवेश करने लगे तभी संभव है जब स्वयं को निश्छल व तेजस्वी बना लिया जाए। बाह्योपचार तथा स्तवन-भजन पूजन ईश्वर से संपर्क स्थापित कर लेने के

माध्यम भर हैं। इसके साथ यदि अन्तरंग वैसा ही दीन मलीन तथा दुर्बल बना रहा तो यह संपर्क एकांगी और अधूरा ही है। हमारी आवाज पहुँचे पर उसका उत्तर न मिले तो समझना चाहिए यह प्रयास असफल है। पवित्रता अर्थात् निश्चलता एवं प्रखरता अर्थात् तेजस्विता ये दो शर्तें पूरी होने पर विद्युत घर से ऊर्जा प्रवाहित होने की तरह प्राण प्रवाह साधक के अंदर होने लगता है। सच्ची भक्ति यही है, शेष तो मात्र कलेवर है।

तथोदारमना एवं परमार्थे रतो भवेत्।

सर्वेष्व्वात्मानमेवं ये पश्यन्त्यात्मनि तानपि ॥ ३७ ॥

वण्टयन्ति सुखं दुःखं स्वयं गृह्णन्ति पूरुषाः।

वसुधैव कुटुंबं च येषामेतच्चराचरम् ॥ ३८ ॥

उदारचेतसस्त्वेवं मनुष्याः सत्तया प्रभोः।

घनत्वं यांति स्वीयाभिः साधनाभिस्तु कर्मणाम् ॥ ३९ ॥

टीका—साथ ही उदारमना एवं परमार्थरत रहना पड़ता है। जो सबमें अपने को, अपने में सबको देखते हैं जो दुःख बँटाते और सुख बँटाते हैं, जिनके लिए समस्त संसार अपना कुटुंब है ऐसे उदारचेता मनुष्य अपनी कर्म साधना से परमात्म सत्ता के साथ घनिष्ठ होते जाते हैं ॥ ३७-३९ ॥

व्याख्या—भगवान की दृष्टि में वही सच्चा भक्त है जो दूसरों के कष्ट में सहभागी बनता है व अपना सुख औरों को बाँटता है। भले ही वह पूजा अर्चा न कर पाए, अपनी इस परमार्थयुक्त कर्म साधना से ही वह ईश्वर का प्रिय पात्र बन जाता है।

सद्भावैश्च सुसंपन्नाः सत्कर्मनिरताश्च ये।

आत्मानस्तुल्यरूपास्ते ज्ञेयास्तु परमात्मनः ॥ ४० ॥

टीका—सद्भाव संपन्न सत्कर्म परायण आत्माएँ, परमात्मा के ही समतुल्य होती हैं ॥ ४० ॥

व्याख्या—जो कर्म सद्भाव से प्रेरित होकर किए जाते हैं, वे ही फलित होते हैं। कर्म साधनारत ऐसे ही व्यक्ति देव मानव कहलाते हैं और परमात्म सत्ता का अनुग्रह तथा जन-सम्मान पाते हैं।

आत्मशक्तेः पूरिका तु शक्तिः सा परमात्मनः।

अपेक्ष्यं बाह्यसाहाय्यं महाभाग ततः शृणु ॥ ४१ ॥

एतत्साधनया सर्वं सिद्ध्यत्यात्मनि सौम्य तु।

परमात्मनि संप्रीते प्रीताः सर्वेऽलमञ्जसा ॥ ४२ ॥

अयाचितं च साहाय्यं कुर्वते येन चार्जिताः।

भक्तश्रद्धा विप्रप्राज्ञा साधुनिष्ठा परार्थगा ॥ ४३ ॥

ज्ञातव्यं स्रोत एवैतत्सामर्थ्यस्य समागतम्।

तस्य, नास्ति किमप्यत्र दुर्लभं ज्ञायतामिदम् ॥ ४४ ॥

टीका—हे महाभाग आत्मबल का पूरक परमात्मबल है। बाहरी सहायता अपेक्षित हो तो, इसी एक साधना से और

## १.२४ प्रज्ञोपनिषद्

सब सध जाता है। आत्मा और परमात्मा दो को प्रसन्न कर लेने पर और सब अनायास ही प्रसन्न हो जाते हैं तथा बिना माँगे ही सहायता करते हैं। जिसने भक्त जैसी श्रद्धा, ब्राह्मण जैसी प्रज्ञा और साधु जैसी परमार्थ निष्ठा अर्जित कर ली, समझना चाहिए उसे सामर्थ्य और संपन्नता का स्रोत हस्तगत हो गया, अब उसे कुछ भी दुर्लभ नहीं ऐसा समझना चाहिए ॥ ४१-४४ ॥

व्याख्या—मानवी बल सीमित है। अपना पुरुषार्थ तो पूरा किया जाना चाहिए पर जब इसकी साधना पूरी हो तब ही परमात्मा से अनुदान पाने की बात सोचनी चाहिए। आत्मा से वरिष्ठ केवल एक ही शक्ति है परमात्मा। और किसी से माँगना, याचना करना मनुष्य को शोभा नहीं देता। मनुष्य को अपनी पात्रता अर्जित कर परमात्म सत्ता से स्वतः ही अनुदान बरसाने की आशा करनी चाहिए।

अपेक्ष्यंते लघूनां तु साहाय्यं महतां किमु।

उपकुर्याल्लघुस्त्वात्मा महतः परमात्मनः ॥ ४५ ॥

तेनैव घनसंबंधः कर्तव्यस्तोष्य एव सः।

अनुकम्पां च तस्यैव प्राप्तुं तत्क्रियतां मनः ॥ ४६ ॥

टीका—छोटों को बड़ों की सहायता अपेक्षित होती है। छोटा बड़े की क्या सहायता करेगा। आत्मा से वरिष्ठ केवल परमात्मा है। उसी के साथ घनिष्ठता जोड़ने, संतुष्ट करने और अनुकम्पा अर्जित करने की बात सोचनी चाहिए ॥ ४५-४६ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार पूर्व में ऋषि ने कहा आत्मबल का पूरक परमात्म बल है उसी प्रकार यहाँ भी इसी तथ्य को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि मनुष्य सहायता का पात्र है तो भी मात्र अपने से वरिष्ठ परमात्मसत्ता से। इन दोनों आत्मा-परमात्मा के बीच और कोई पद नहीं है। मनुष्य को माँगना चाहिए तो अपने से वरिष्ठ मूल उद्गम स्रोत परमात्म शक्ति से। उसी से अपना संबंध साधना, उपासना, आराधना आदि उपक्रम अपनाकर जोड़ा और सशक्त किया जाता है ॥ ४५-४६ ॥

प्राणिनां दानसेवाभिः साधनाभिश्च श्रेष्ठताम्।

प्राप्येश्वरान्तु संप्राप्तिः प्राणिभ्यश्च विभाजनम् ॥ ४७ ॥

सत्या संपन्नता ह्यत्र सामर्थ्यं चापि विद्यते।

जीवनस्य च सर्वस्य सार्थक्यं मन्यतामये ॥ ४८ ॥

टीका—प्राणियों को तो देने की, सेवा-साधना करते हुए उनसे वरिष्ठ ही बनना चाहिए। ईश्वर से पाना और प्राणियों को बाँटना इसी में सच्ची संपन्नता, समर्थता एवं जीवन की सार्थकता है ॥ ४७-४८ ॥

व्याख्या—मनुष्य को जिस प्रकार अपने वरिष्ठ परमपिता से अनुदान मिलते हैं, उसी प्रकार उसे भी मिली वैभव साधन गुणकर्म रूपी संपदा को अपने पास संचित न रख निरंतर

वितरित करते रहना चाहिए। वरिष्ठ बनने की पहली शर्त यही है कि अपने को जो मिला उसे अन्यो को बाँटा, कि नहीं? जो देने की उदारता दिखाता है वह पाता भी है। बादल समुद्र से भाप बनकर उठते हैं और उस जल को वापस पृथ्वी को लौटा देते हैं। वे अपने पास संचित रखते तो सृष्टि का संतुलन ही नष्ट हो जाता।

ईश्वरे दृढविश्वासा ये ते कर्मफलस्य हि।

विधाने विश्वसंत्येवं क्रियाया याः प्रतिक्रियाः ॥ ४९ ॥

उत्पद्यंते विलंबेन ततो विचलिता न ते।

सन्मार्गे प्रस्थितानां सधीचिविश्वास ईश्वरे ॥ ५० ॥

चिन्तयंति न तेऽनिष्टं भीता नैव विरोधिनः।

असहाया हताशा न बलिष्ठा ईश्वराश्रिताः ॥ ५१ ॥

न याचंते न कामंते भक्तास्ते क्षुद्रतां निजाम्।

महत्तया तु युज्जंति तत्साम्यं प्राप्नुवंति च ॥ ५२ ॥

स्तवोपचारपणनमनंताः कामनास्ततः।

वञ्चकास्तु प्रकुर्वन्ति नहि भक्ताः कदाचन ॥ ५३ ॥

टीका—ईश्वर विश्वासी उसके कर्मफल विधान पर भी विश्वास करते हैं। अस्तु वे क्रिया की प्रतिक्रिया उत्पन्न होने में देर लगने से भी विचलित नहीं होते। सन्मार्ग पर चलते हुए जिन्हें ईश्वर के साथ होने का विश्वास रहता है, वे न अनिष्ट की बात सोचते हैं, न विरोधी से भयभीत होते, न एकाकी होने की बात सोचकर हताश ही होते हैं। ईश्वर भक्त सच्चे अर्थों में बलिष्ठ होते हैं। भक्त न याचना करते हैं, न कामना वे अपनी क्षुद्रता को महानता के साथ जोड़ते और तत्सम बन जाते हैं। स्तवन उपचार के बदले असीम मनोकामनाएँ पूरी करने की बात प्रबंचक करते हैं भक्तजन नहीं ॥ ४९-५३ ॥

व्याख्या—आस्तिकता का अर्थ है ईश्वर के नियम अनुशासन में दृढ़ विश्वास। वे जानते हैं कि कर्म का परिपाक, परितोषिक बनता है। इसमें समय अवश्य लग सकता है पर उसके लिए धैर्य खोने की आवश्यकता नहीं। वे जानते हैं कि हर क्रिया लौटकर अपने ही ऊपर प्रतिक्रिया करती है। दुष्कर्म में निरत होने वाला व्यक्ति इस तथ्य को भुलाकर तात्कालिक सुख बटोरने में जुटा रहता है, कालांतर में रोग-शोक-पतन के रूप में जब वे फलित होते हैं तो उसे प्रतिक्रिया का सिद्धांत ज्ञात होता है। सन्मार्ग पर चलने वाला मन में यह दृढ़ विश्वास रखता है कि वर्तमान में भले ही यह घाटे का सौदा प्रतीत होता है, आगे चलकर जब भी इसके परिणाम आएँगे वे सुखद ही होंगे।

श्वेतकेतो जगत्यत्र भौतिके दृश्यतामये।

शरीरस्यबलं शस्त्रबलं संघबलं तथा ॥ ५४ ॥

बलं बुद्धेर्धनस्यापि कला कौशलजं बलम्।

आत्मिके जगति प्रोक्तमेकमात्मबलं त्वलम् ॥ ५५ ॥

तस्योपार्जनमीशस्य भक्तिक्षेत्रे तु संभवम्।

सच्चिन्तनेन सत्कर्म-बीजस्यारोपणेन च ॥ ५६ ॥

टीका—हे श्वेतकेतु भौतिक जगत में शरीर बल, शस्त्रबल, संगठनबल, बुद्धिबल, धनबल, कला-कौशल जैसी अनेकों सामर्थ्य हैं, किंतु आत्मिक जगत में एक ही बल है आत्मबल। उसका उपार्जन ईश्वर भक्ति के क्षेत्र में सच्चिन्तन और सत्कर्म का बीजारोपण करते हुए संभव होता है ॥ ५४-५६ ॥

व्याख्या—थोड़ा सा धन जमा हो तो कालांतर में व्याज के साथ बढ़ता चला जाता है। मनुष्य के पास बहिरंग जगत की संपदाओं से भी बढ़कर एक ऐसी आत्मिक संपदा है जिसे चिंतन में श्रेष्ठता तथा क्रियाकलापों में उत्कृष्टता का समावेश कर बढ़ाया जा सकता है। अंतर्जगत की यह खेती दिव्य विभूतियों की फसल के रूप में पकती व व्यक्ति को विभूतिवान बनाती है। आत्मबल एक ऐसी विशिष्ट संपदा है जो मात्र मनुष्य को ही मिली है। यह बात अलग है कि इस रत्न भंडार को बहुत कम पहचान पाते व उपयोग कर पाते हैं।

आत्मबलातिरिक्ता तु विभूतिर्नहि जीवने।

मनुष्यस्य मता श्रेष्ठा विशालात्मा तु यो नरः ॥ ५७ ॥

सामर्थ्यवान् स एवास्ति संपत्त्या युक्त एव च।

उपार्जनमिदं भुक्तावकृत्वा सावधानतः ॥ ५८ ॥

महत्सूद्देश्य केष्वेव योजनं महतामिदम्।

वैशिष्ट्यं वर्तते येन जगत् सन्मंगलं भवेत् ॥ ५९ ॥

टीका—आत्मबल से बढ़कर मनुष्य जीवन में और कोई बड़ी विभूति नहीं है। जो इसका धनी है, उसे सामर्थ्यवान पाया जाता है और संपत्तिवान भी। इस उपार्जन को विलास में न खरच करके सावधानी से महान् उद्देश्यों में नियोजित करना महामानवों की विशेषता है, जिससे जगत् मंगलमय बन जाता है ॥ ५७-५९ ॥

टीका—आत्मबल से बढ़कर मनुष्य जीवन में और कोई बड़ी विभूति नहीं है। जो इसका धनी है, उसे सामर्थ्यवान् पाया जाता है और संपत्ति

व्याख्या—भौतिक सामर्थ्य की अपनी महत्ता है, उपयोगिता है पर आत्मिक विभूति से उसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती। जहाँ भौतिक संपत्ति को संपदा माना जाता है वहाँ आत्मिक संपत्ति को विभूति कहते हैं। एक सिद्धि है तो दूसरी ऋद्धि। इसे भगवान ने इसलिए नहीं दिया कि इसका दुरुपयोग व्यर्थ, अहं प्रदर्शन, बाजीगरी, सिद्धि, चमत्कार आदि में किया जाए। महामानव देवदूत इसीलिए इसे मंगलकारी कार्यों के लिए नियोजित रखते हैं, व्यर्थ नष्ट नहीं करते।

जीवनं देवता नूनं प्रत्यक्षं तस्य लभ्यते।

अभ्यर्थनाभिरेतत्सत्परिणामपरंपरा ॥ ६० ॥

जीवनं नोपहारोऽस्ति प्रभोः प्रतिनिधिस्तु तत्।

जीवनोपासनामूला सिद्ध्यतीशस्य साधना ॥ ६१ ॥

प्रतिफलानि तस्यास्तु सामान्यं कुर्वते जनम्।

असामान्यं ध्वनत्येतज्जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥ ६२ ॥

टीका—जीवन प्रत्यक्ष देवता है। उसकी अभ्यर्थना करने से हाथों-हाथ सत्परिणामों की प्राप्ति होती है। जीवन को ईश्वर का उपहार नहीं, प्रतिनिधि कहा गया है। जीवन-साधना से ही ईश्वर-साधना सधती है उसी के प्रतिफल सामान्य असामान्य बनते हैं। जीवो ब्रह्मैव नापरः कथन इसी को ध्वनित करता है ॥ ६०-६२ ॥

व्याख्या—जीवन भगवत् सत्ता की साकार प्रतिमा है। जो भी कुछ प्राप्त किया जा सकता संभव है, इसी देवता की उपासना से अर्जित किया जा सकता है, इसी तथ्य को ऋषि ने पहले भी अध्यात्म दर्शन प्रकरण में स्पष्ट किया है। यहाँ वे और भी सशक्त स्वर में जीवन साधना को अपने-आपे को महान बनाने की तपश्चर्या पर बल देते हुए कहते हैं कि जीव-ब्रह्म का ही अंश होने से हमेशा उसे ब्रह्म जैसा ही सशक्त सामर्थ्यवान गुण संपन्न होने की बात सोचनी चाहिए। इसी साधना ने सामान्य से व्यक्तियों को असामान्य बनाया है। पर बहुसंख्य व्यक्ति इस देवता को चेतना की प्रतीक सत्ता को जान नहीं पाते और हेय सा जीवन बिताते रहते हैं।

श्वेतकेतो मानवोऽयं महान् पूर्णाद्यतोऽधुवम्।

उत्पन्नस्तथ्यतस्तेन सोऽपिपूर्णोऽस्ति मन्यताम् ॥ ६३ ॥

कषायमल्मषावृत्तो दरिद्रो दीन एव च।

शिथिलीकरोति यावच्च मालिन्यभवबन्धनम् ॥ ६४ ॥

सामीप्यं सरलं तस्य तावदीशस्य संभवेत्।

ईश्वरस्य समीपे यः सामर्थ्यमधितिष्ठति ॥ ६५ ॥

टीका—हे श्वेतकेतु मनुष्य निश्चय ही महान है। वह ईश्वर से उत्पन्न होने के कारण तथ्यतः पूर्ण ही है, कषाय-कल्मषों से आवृत्त होकर ही वह दीन-दरिद्र बनता है। मलीनता के भव-बंधनों को जो जितना शिथिल करता है उसके लिए ईश्वर की समीपता उतनी ही सरल बनती जाती है। जो ईश्वर के निकट है, उसे सामर्थ्य का अधिष्ठाता माना जाता है ॥ ६३-६५ ॥

व्याख्या—मनुष्य महान है, अपने में समग्र है। यह मात्र इस कारण कि वह ब्राह्मी सत्ता का ही एक अंश है। जिस प्रकार बुझती आग को प्रदीप्त करने के लिए राखरूपी मलीन आवरण हटाना पड़ता है उसी प्रकार मनुष्य पर भी दैनंदिन जीवन में छाये कषाय-कल्मष को मिटाने की आवश्यकता पड़ती है। ये आवरण अमरबेल की तरह होते हैं जो वृक्ष से पोषण लेती है और उसके ऊपर छाकर उसे शुष्क कर डालती है। यदि जीवनसत्ता को परमपिता के सामीप्य का

## १.२६ प्रज्ञोपनिषद्

लाभ पाना हो तो उसे इन बंधन की जंजीरों को तोड़ना ही होगा। मनुष्य दीन-हीन बनता है अपने ही कारण ईश्वर के समकक्ष बनने का श्रेय पाता है तो वह भी मात्र अपने ही बलबूते।

अरण्यसाधनायां हे ब्रह्मविद्याभिसाधनाः।

ब्रह्मवेत्तार आत्मीयं सामर्थ्यं ज्ञायतां भृशम् ॥ ६६ ॥

विश्वासस्तत्र कर्तव्यं तच्च वर्धयतानिशम्।

बलिष्ठतायै साहाय्यं यद्यपेक्षेत भिक्षु तत् ॥ ६७ ॥

सहैवात्र च विज्ञेयस्त्वैश्वरोऽनुग्रहः सदा।

अनुरूपः पात्रताया लभ्यते नात्र संशयः ॥ ६८ ॥

टीका—हे आरण्यक साधना में, ब्रह्मविद्या की साधना में निरत ब्रह्मवेत्ताओ आत्मा की सामर्थ्य को समझो उस पर विश्वास करो और बढ़ाओ। बलिष्ठता के लिए यदि सहायता की आवश्यकता पड़े तो ईश्वर से माँगो साथ ही ध्यान रखो पात्रता के अनुरूप ही दैवी अनुग्रह उपलब्ध होता है, इसमें संदेह नहीं ॥ ६६-६८ ॥

व्याख्या—ऋषि यहाँ पूर्व कथन की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि अध्यात्म पथ पर चलने वाले हर जिज्ञासु को एक ही तथ्य याद रखना चाहिए अपनी सामर्थ्य पर दृढ़ विश्वास रखो, वह मूल बीज है जो वृक्षरूप में फलित होकर कृतकृत्य करता है पर उसे भुलाकर प्रभु से याचना मत करो। अपनी सामर्थ्य जब चुक जाए तब प्रभु से माँगो। आत्मविश्वास को याद कर कभी गर्व भी मत करो। यदि तुम सुयोग्य न हुए, उसकी कृपा के पात्र सिद्ध न हो सके तो उसकी कृपा कभी नहीं मिलेगी।

विडंबनाऽथ दारिद्र्यं वैपन्यं च विभीषिकाः।

दृश्यन्ते संकटादीनि संसारे यानि तानि तु ॥ ६९ ॥

निकृष्टतोदितानीह चिंतनस्याथ मन्यताम्।

दुश्चारित्र्योदितान्येव भ्रष्टतामूलकानि च ॥ ७० ॥

टीका—संसार में दरिद्रता, विपन्नता, विडंबना, विभीषिका के जो अनेकानेक संकट दृष्टिगोचर होते हैं, वे मात्र चिंतन में निकृष्टता और चरित्र में भ्रष्टता बढ़ जाने के कारण ही हैं ॥ ६९-७० ॥

व्याख्या—पूर्व में पूछे गए जिज्ञासु श्वेतकेतु के प्रश्न का समाधान करते हुए व्यावहारिक पक्ष पर आते हुए ऋषि पिप्पलाद कहते हैं कि सूक्ष्म जगत का विक्षोभ मानव जन्य ही है जो दरिद्रता एवं दैवी प्रकोपों के रूप में दृष्टिगोचर होता है। चिंतन में जब तक परिवर्तन न होगा, व्यवहार जब तक नहीं सुधरेगा, संव्याप्त परिस्थितियाँ और भी विषम होती चली जाएँगी। इसी धरती पर स्वर्ग और नरक देखना हो तो चिंतन चरित्र की इन प्रतिक्रियाओं के रूप में देखा जा सकता है।

यद्यात्मशोधनेनाथ चात्मनिर्माणकेन च।

व्यक्तित्वं विकसेत्तर्हि पलायंत इमान्यपि ॥ ७१ ॥

यथा सूर्योदये जाते न ज्ञायन्ते निशाचराः।

कथं ब्रह्मोदये जाते भ्रष्टा माया विमोहयेत् ॥ ७२ ॥

टीका—यदि आत्मशोधन और आत्मनिर्माण द्वारा व्यक्ति त्व को विकसित किया जा सके, तो फिर समस्त संकट उसी प्रकार पलायन कर जाते हैं जैसे सूर्य उदय होने पर निशाचरों का कहीं अता-पता नहीं लगता। भला ब्रह्मज्ञान हो जाने पर भ्रष्टाचार की माया कैसे टिकेगी ॥ ७१-७२ ॥

व्याख्या—अपना व्यक्तित्व ऊँचा उठाने के लिए पुरुषार्थ करना होता है। यह पुरुषार्थ किसी भी सांसारिक पराक्रम से बढ़कर है। अपने चिंतन की निकृष्टता का निवारण और सद्विचारों की स्थापना उसी प्रकार है जैसे प्रातःकाल होते ही अंधतमिस्त्रा का मिट जाना। भगवान् प्रकाश का पुंज है। उसके और जीवात्मा के बीच जो अँधेरा है, गहरी खाई है उसे मिटाना व पाटना यह पराक्रम पुरुषार्थ संपादित किए बिना उसकी एक किरण पाने की आशा करना भी व्यर्थ है।

ऋषिभिर्मानवानां तु दुःखदारिद्र्य कारणम्।

पतनस्य पराभूतेर्भिन्नत्वं लोकि तं द्वयोः ॥ ७३ ॥

न्यूनतां तामपाकर्तुं स्वस्मादन्येभ्य एव च।

व्यचारयन् विभिन्नांस्तानुपायान् विश्वमंगलान् ॥ ७४ ॥

टीका—मनुष्यों के दुःख दारिद्र्य का पतन-पराभव का कारण आत्मा और परमात्मा की विलगता को ऋषियों ने जाना और वे उस कमी को अपने में से तथा दूसरों में से हटाने के लिए कल्याणकारी विभिन्न उपाय सोचने लगे ॥ ७३-७४ ॥

व्याख्या—महर्षि पिप्पलाद की ब्राह्मी चेतना, आत्मतत्त्व एवं दैवी अनुदान संबंधी व्याख्या से सभी जिज्ञासुओं को स्पष्ट भान हो गया कि मानवी पतन के लिए परिस्थितियाँ नहीं, आत्मतत्त्व पर छाए कषाय-कल्मष ही उत्तरदायी हैं। ऋषियों ने समझ लिया कि विपन्नताओं का मूल स्तोत्र हमारा अपना आपा ही है। यदि अंतःक्षेत्र की कालिमा को धोया जा सके तो परमात्मा का प्रकाश अंदर पहुँचा सकना हर किसी के लिए सहज संभव है। हम अपनी कमियों को पहचानें और इन्हें हटाने और उनके स्थान पर सत्प्रवृत्तियाँ स्थापित करने का उपाय सोचें, इसी में अपना व मानव मात्र का कल्याण है।

दूरीभूतस्तु संदेहोऽयं समेषां विपत्तयः।

अन्योत्पादिताः संति यतः पातोत्थिता तथा ॥ ७५ ॥

मनुष्यभूमिकाजन्ये तन्मनुष्यस्य स्वां दिशम्।

शोधयित्वानुकूल्ये च प्रातिकूल्यं विवर्तितुम् ॥ ७६ ॥

कठिनं नेति तथ्यं स पिप्पलादो महामतिः।

सर्गांभीर्यं यथाऽवोचत्तत्तेषां स्वमान्यता ॥ ७७ ॥

पुष्टा सात्मनि संयुक्ते परमात्मनि निश्चितः ।  
 संकटानां समाधाने विश्वासः सर्वथा ततः ॥ ७८ ॥  
 द्वितीयाह्निकचर्चायां सर्वे जिज्ञासवश्च ते ।  
 यथार्थतायुतं पूर्णं समाधानं च लेभिरे ॥ ७९ ॥  
 तृप्ता तथापि जिज्ञासा तेषां नैव तथा च ते ।  
 संदर्भेऽस्मिन्ननेकाश्च पिपृच्छाहृदिबिभ्रतः ॥ ८० ॥  
 साधकाः सत्रपूर्तौ ते नित्यनैमित्तिकां ततः ।  
 साधनां कर्तुकामास्ते गताः संनति पूर्वकम् ॥ ८१ ॥

टीका—सभी का यह संदेह दूर हो गया कि विपत्तियाँ दूसरों द्वारा थोपी जाती हैं। जब उत्थान-पतन के लिए स्वयं ही भूमिका बनाता है, तो उसे अपनी दिशाधारा सुधार कर प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलना तनिक भी कठिन नहीं होना चाहिए। यह तथ्य महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने जिस गंभीरता के साथ समझाया उससे उनकी पूर्व मान्यताओं को और भी अधिक बल मिला और आत्मा को परमात्मा से मिला देने पर उनका सुनिश्चित विश्वास हो गया। दूसरे दिन भी इस चर्चा से सभी जिज्ञासुओं को यथार्थता से भरा पूरा समाधान मिला।

इतने पर भी उनको सर्वथा तृप्ति न मिली। इस संदर्भ की कई और भी बातें कल पूछने की इच्छा मन में रखते हुए साधकगण सत्र अवसान होने पर नित्य नैमित्तिक साधना के लिए अभिवादन पूर्वक विसर्जित हो गए ॥ ७५-८१ ॥

व्याख्या—मनुष्य का यह भ्रम कि हमारी प्रतिकूलताओं का कारण बहिरंग जगत है इस तथ्य से मिट जाता है कि जैसी मनःस्थिति एवं आचरण वह बनाता है वैसा ही उसका संसार होता है। जब भौतिक जगत में बड़ी-बड़ी नदियों की धारा को बदलकर इनकी दिशा बदली जा सकती है तो अंतर्जगत के इस भागीरथी पराक्रम द्वारा जीव को ब्रह्म से मिलाना, स्वयं को उत्कृष्टता से जोड़ सकना पूरी तरह संभव है। दो तार मिलते ही दोनों दिशाओं में प्रवाह आरंभ हो जाता है। एक बार संपर्क जुड़ते ही दैवी अनुदान अजस्र मात्रा में बरसने लगता है। फिर मनुष्य देवात्मा-देवदूत-ऋषि स्तर का हो जाता है। यह किस विधा द्वारा किया जाए, इसकी जानकारी महर्षि पिप्पलाद ने दी और सबकी इस संबंध में बनाई मान्यताओं को और दृढ़ बनाया।

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः  
 श्री पिप्पलाद-श्वेतकेतु ऋषि-संवादे ब्रह्मक्षेत्रादजस्रमनुदानोपलब्धि इतिप्रकरणो नाम  
 तृतीयोऽध्यायः ॥